



## ईशावास्योपनिषद् की परिचयात्मक समीक्षा

प्रा. बाबुभाई ए. वैरू

वेदो भारतीय संस्कृति का आधार है । संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् का समन्वित रूप ही वेद है । भारतीय संस्कृति के इतिहास में वेदो को नितान्त गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है । भारत में प्रचलित धर्म और दर्शन की कई शाखाओ के मूल वैदिक साहित्य में प्राप्त होते है । वेद का अन्तिम भाग होने के कारण उपनिषद् को 'वेदान्त' कहा जाता है ।

श्वेताश्वतरोपनिषद् तथा मुण्डकोपनिषद् में वेदान्त का अर्थ 'रहस्यात्मक' ज्ञान है। उपनिषद् दार्शनिक समस्याओं का समाधान करते है । ये ज्ञानमार्ग के ग्रन्थ है । संहिता ब्राह्मण भाग में कर्ममार्ग का विवेचन करने वाले वेदो की परिणति ज्ञानमार्ग को उदघाटित करने वाले आरण्यक और उपनिषदों में हुई है । 'उपनिषद्' शब्द 'उप' एवं 'नि' उपसर्ग पूर्वक सद धातु से क्विप् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है। सद धातु के तीन अर्थ है। विशरण (नाश होना), गीट (ज्ञान तथा प्राप्ति), अवसादन (शिथिल या समाप्त होना) उपनिषदों के ज्ञान से कर्मबन्धन एवं अविधा का विनाश होता है । ज्ञान से ब्रह्म की प्राप्ति होती है और आवागमन के क्रम से मुक्ति प्राप्त होने पर जीवन के कष्ट सर्वथा शिथिल अथवा समाप्त हो जाते है । 'सद्' धातु बैठने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। 'उप' एवं 'नि' उपसर्ग पूर्वक सद धातु का अर्थ है- अत्यंत समीप बैठना । ब्रह्मनिष्ठ गुरु के निकट अत्यन्त श्रद्धाभाव से जिज्ञासु शिष्य द्वारा प्राप्त किया गया रहस्यमय ब्रह्म ज्ञान ही उपनिषद् है। उपनिषदों की संख्या के सम्बन्ध में पर्याप्त मत विभिन्न है । श्री आदि गुरु शंकराचार्य जी ने प्राचीनतम तथा प्रामाणिक माने जाने वाले जिन दस उपनिषदों पर भाष्य लिखा है, उनमें ईशावास्योपनिषद् का स्थान प्रथम है । श्री चिन्तामणि विनायक वैद्यने उपनिषद् का काल आरम्भ २५०० विक्रम पूर्व माना है। ईशावास्योपनिषद् का समय भी इसी के समीप न्यायसंगत प्रतीत होता है । किन्तु इस विषय में विद्वानों में विभिन्न मत भेद है। बहुत से उपनिषदों कर्मत्याग संन्यास के मार्ग का प्रतिपादन करते है। लेकिन ईशावास्योपनिषद् ज्ञानयुक्त कर्म अर्थात् अनासक्त कर्म का मार्ग बताते है। यह उपनिषद् निष्काम कर्मयोग का आग्रह रखते है। कर्म और अकर्म का सुभग समन्वय किया गया है।

ईशावास्योपनिषद् शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा से सम्बन्ध है। इस उपनिषद् को वाजसनेयी उपनिषद् भी कहा जाता है । यह सर्वाधिक लघुकाय यजुर्वेद का ४०वा अध्याय है। इस उपनिषद् में १८ मंत्रो है। जिसमें कर्म, ज्ञान का समुच्चयवाद का बीज

पाया जाता है। यह उपनिषद् पद्य में है। इनका नामकरण प्रथम मंत्र 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' के ईशावास्य को लेकर किया गया है। लघु होने पर भी इसमें ऐसे अनेक संकेत हैं, जिनसे आश्चर्यजनक सूक्ष्म द्रष्टि का परिचय मिलता है। प्रथम मंत्र में कहा गया है, की यह संपूर्ण जगत ईश्वर का आवास है।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम् ॥

सर्वत्र ईश्वर का दर्शन करता साधक निष्काम बनता है, और किसी के धन की इच्छा नहीं करता । स्व का सर्वस्व सर्वव्यापक ईश्वर को अर्पण करके आनंद प्राप्त करता है। किसी पदार्थ का भोग करने से क्षणिक आनंद मिलता है, वह आनंद त्याग का आनंद है, यह आनंद शाश्वत और सात्विक होता है। ईशावास्योपनिषद् के दूसरे मंत्र में कर्म योग का प्रतिपादन किया गया है।

कुर्वन्नेवेह कर्मानि जिजीविषेच्छतं समाः ।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

ऋषि कहते हैं, की कर्म करके मनुष्य को सो वर्ष तक जिने की इच्छा करनी चाहिए । इस तरह मनुष्य कर्म के बन्धन में नहीं आता है । दूसरा कोई उपाय नहीं है। कर्म मनुष्य को बन्धन नहीं करता है, लेकिन कर्म की आसक्ति बन्धनकारक है। कर्म प्रकृति का स्वभाव प्रकृति से उत्पन्न देह , मन इत्यादि एक क्षण के लिए भी कर्म के बिना नहीं रहते । मनुष्य को स्व स्वार्थ के लिए नहीं किन्तु, परमेश्वर की प्रसन्नता के लिए स्वधर्मकर्म निष्काम भाव से करना चाहिए ।

श्रीमद् भगवद्गीता में प्रतिपादित कर्मयोग के मूल इस मंत्र में है। श्रीमद् भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि तुम कर्म करो कर्म के बिना तुम्हारा शरीरनिर्वाह भी नहीं चलेगा । जनक इत्यादि को कर्म के द्वारा परमसिद्धि की प्राप्ति हुए हैं। ईशावास्योपनिषद् मंत्र तीन में कहा है, की अंधकार व्याप्त मनुष्य असूय है। जो भी कोई मनुष्य आत्मधाती है, वह मृत्यु के बाद असूय की तरफ जाता है। ऐसे मनुष्य नास्तिक, भौतिकवादी, देहात्मवादी होते हैं, जो केवल संसार को सत्य मानकर उपभोग करने में तल्लीन होते हैं। वह मनुष्य पशुसमान होते हैं। ईशावास्योपनिषद् में आत्मतत्त्व को निर्विकार, अचल और अद्वितीय कहा है। आत्मतत्त्व मन से अधिक वेगवान है। देवो भी उसका रहस्य नहीं जान पाये । स्थिर होने के बाद भी दौड़ते अन्यो से आगे निकल जाता है।

तदेजति तन्नेजति तद् दूरे तद्वन्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

परमात्मा या ब्रह्म का स्वरूप सर्व उपनिषदों का मुख्य विषय रहा है। आत्मा और परमात्मा के बीच अद्वैत का प्रतिपादन सभी उपनिषदों करते हैं। परमात्मा सभी के अन्दर भी है और बहार भी है। परमतत्त्व सर्व से पर विश्वातीत है। इस मंत्र को अन्य उपनिषदों में अलग शब्दों में वर्णित किया गया है- बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च । सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ (गीता.१३.१६) दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यतिस्वहैव निहितं । (मुण्डकोपनिषद ३.१.७) आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः । (कठोपनिषद १.२.२१) आत्मज्ञानी मनुष्य सभी भूतों में स्व आत्मा को देखता है, और स्व आत्मा में सर्व भूतों को देखता है, वह किसी की निंदा नहीं करता। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश पंचमहाभूत कहलाते हैं। उसमें से सभी की उत्पत्ति होती है। जो मनुष्य ब्रह्म का निरंतर दर्शन करता है, वह साधक स्वयं ब्रह्मरूप होता है, और मुक्तात्मा बनता है। सर्वत्र आत्मदर्शन करता ज्ञानीपुरुष ब्रह्ममय बनता है। वह अपने आपको परमात्मा में विलीन करता है, और ब्रह्मरूप होता है, उसके लिए सभी पदार्थों आत्मा एवं बन जाता है। आत्मा को यथार्थ जानता ज्ञानी महात्मा निजानंद में मस्त बनता है। व्यक्त जगत के अपार वैविध्य के पीछे व्याप्त एकत्व का अनुभव होने से ब्रह्मरूप बन जाता है। इस उपनिषद में कहा है की परमात्मा के रूप में आत्मा बन जाता है, तब आत्मा स्वयं ईश्वररूप बन जाता है।

स पर्यगाच्छुक्रमकायव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थात् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यःसमाभ्यः॥

परमात्मा को प्राप्त करने का उपाय ईशावास्योपनिषद में बताया गया है, की जो अविद्या की उपासना करता है, वह गाढ अंधकार में प्रवेश करता है। जो केवल विद्या में रत रहता है, वह उससे भी अधिक अंधकार में प्रवेशता है। जो मनुष्य जानने लायक ज्ञान को छोड़कर न जानने योग्य ज्ञान के पीछे पड़ता है, वह अंधकार में जाता है। विद्या और अविद्या का फल पृथक पृथक कहा है। विद्या के द्वारा देवलोक की प्राप्ति होती है, और अविद्या के द्वारा अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्मों द्वारा पितृलोक की प्राप्ति होती है। इस तरह विद्या और अविद्या का फल पृथक पृथक है। ऋषि कहते हैं, की जिसने हमको उपदेश दिया है, उस प्राज्ञपुरुष के द्वारा हमने श्रवण किया है। स्व के ज्ञान को अधिकृत बनाने के लिए उपनिषदों में इस तरह के वाक्यों प्रयुक्त हैं। यह कथा पूर्व प्राज्ञ पुरुषोंने कही है, ऐसा कहने से वह कथा अधिक विश्वसनीय बन जाती है। शंकराचार्य का मत है, की सम्भूति अर्थात् कार्यब्रह्म (हिरण्यगर्भ), और असम्भूति अर्थात् मूल प्रकृति. दोनों की एक साथ उपासना करने का विधान है। अधर्म और कामादि दोषों द्वारा उत्पन्न हुए अनैश्वर्य ही मृत्यु है। कार्यब्रह्म अर्थात् हिरण्यगर्भ की उपासना द्वारा अणिमाआदि सिद्धियां प्राप्त होती हैं। उसके द्वारा मनुष्य अधर्म और कामादि दोषों द्वारा उत्पन्न हुए अनैश्वर्यरूपी मृत्यु को पार कर जाता है। असम्भूति अर्थात् अव्यक्त की उपासना द्वारा प्रकृतिलयरूपी अमृत को प्राप्त हो जाते हैं।

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।  
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥

ईशावास्योपनिषद् में परमतत्व की प्राप्ति के लिए हृदय का उत्कट भक्तिभाव प्रकट होता है। परमात्मा की प्राप्ति के लिए भक्त के सभी प्रयत्नों की मर्यादा होती है। मनुष्य कितना भी महान हो, अन्तमे वह मनुष्य है, उसकी शक्तियां सिमित होती है। भक्त स्व को मदद करने के लिए आर्तभाव से प्रभु की प्रार्थना करता है। अंतकाल में परमात्मा के अन्दर से स्व चित का विचलन न हो, संसार की माया चमक उसको भ्रमित न करे, उसके लिए भक्त विनंति करता है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यापिहितं मुखम् ।  
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय द्रष्टये ॥

सुवर्णमय पात्र के द्वारा सत्य का मुख बंद है। परमात्मा सभी में व्याप्त है, किन्तु सांसारिक विषयभोग की लालसा, धन की इच्छा, आत्मादर्शन में बाधक बनकर माया या अविद्या का आकर्षण मनुष्य को सत्य के पास पहुँचने नहीं देता। केनोपनिषद् में भी एक आख्यान है, की देवता ब्रह्म के विजय को अपना विजय समझने लगे इसलिए ब्रह्म ने एक यक्ष का निर्माण किया, उस यक्ष को जानने के लिए देवता ने प्रयत्न किया लेकिन नहीं जान पाये क्योंकि यक्ष एक मायारूपी (सुवर्ण) पात्र से ढका हुआ था। उसके बाद सुवर्णमय स्त्री आती है, और यक्ष ब्रह्म है ऐसा ज्ञान होता है। माया या अविद्या जीव को संसार के मोह में आकर्षण कराता है। इसलिए आत्मा का यथार्थ दर्शन नहीं हो पाता। यह माया को सुवर्णमय पात्र कहा है। शंकराचार्य के मत में सत्यस्य मुखम् का अर्थ सूर्यमंडल में स्थित ब्रह्म का मुख अर्थ है। ऋषि परमेश्वर के दिव्यगुणों का स्मरण करके अपना भक्तिभाव प्रगट करते हैं। परमात्मा के परम मंगलमय स्वरूप के साक्षात्कार के लिए प्रार्थना करते हैं। ऋषि अंत में परमेश्वर को प्रार्थना करते हैं, की

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।

ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर ॥

अग्ने नय सुपथा रावे अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भयिष्ठां ते नम उक्ति विधेम ॥

मृत्यु सभी के लिए भयप्रद है, किन्तु अद्वैतानुभूति जिसने की है, वह साधक के लिए मृत्यु आनंदोत्सव बन जाता है। ॐ और अथ शब्दों प्रथम ब्रह्मा के मुख में से बहार निकले थे, इसलिए उसे पवित्र और मंगलमय माना जाता है। अन्तिम मंत्र का भाव इतना प्रभावक और प्रेरक है की सामूहिक प्रार्थना मंत्र के रूप में अत्यंत लोकप्रिय रहा है।

**उपसंहार**

ईशावास्योपनिषद् ईश्वर-ब्रह्म का सम्यक ज्ञान के द्वारा भोगवृत्ति का त्याग करके सर्वदा निष्काम कर्म करने का आग्रह रखते हैं।

सफल जीवन के लिए ज्ञान और कर्म का समन्वय आवश्यक है।

परमेश्वर की कृपा माया के आवरण को दूर करता है। माया का आवरण विनष्ट होने से परमतत्त्व का साक्षात्कार होता है।

मनुष्य विद्या के द्वारा अमृत की प्राप्ति करता है।

यह समस्त जगत सुवर्णमय पात्र के द्वारा आच्छादित है, ईश्वर का यथार्थ ज्ञान होने से यह पात्र खुल जाता है।

अग्निदेव ही समस्त मनुष्यों के कर्मों को जानता है, और वही कल्याण की ओर ले जाता है।

इस तरह माया में भटकते, अज्ञान के अंधकार में भटकते, जीव के जीवन को परमात्मानुभूति तक पहुँचाने की कला इस उपनिषद् में प्रभावक तरीके से सरल शैली में निरूपित हुए हैं।

**संदर्भ ग्रंथ**

१. १०८ उपनिषद्- संपादक- सं. श्री रामशर्मा आचार्य, माता भगवतीदेवी शर्मा प्र. युग निर्माणा योजना विस्तार ट्रस्ट गायत्री तपोभूमि, मथुरा.
२. यजुर्वेदभाष्य (स्वामी दयानंद सरस्वतीना भाष्य अनुसार) अनुवाद: वैद्य दयालमुनि आर्य प्रकाशक: वानप्रस्थ साधक आश्रम, आर्यवन, रोहड ७.साबरकांठा